

फेल करना और बाहर धकेलना

एक राजनैतिक अर्थशास्त्र

अनामिका

हम भारतीयों को सभी प्रकार के संरचनात्मक ढांचों से प्रेम है और शिक्षा का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं है। हमारा परिघटनाओं, मुद्दों एवं परिस्थितियों को एक ढांचे में ही देखने में प्रशिक्षण एवं समाजीकरण हुआ है। और शिक्षा भी इससे परे नहीं रह पाई और भारतीय शिक्षा ने न केवल इन संरचनात्मक ढांचों को बनाए रखा बल्कि पुनरुत्पादित भी किया जैसे कि जाति एवं लिंग भेद, क्षेत्रीय एवं भाषाई विषमताएं। यही कारण है कि समसामायिक भारतीय समाज ऐसी किसी बड़ी सामाजिक क्रान्ति से रूबरू नहीं हो पाया जिसकी जननी शिक्षा रही हो।

अगर एक नजर भारतीय शिक्षा पर डालें तो पता चलता है कि इसने पीढ़ी दर पीढ़ी ऐसे नागरिकों को जन्म दिया है जो कभी प्रश्न नहीं करते बस आज्ञाओं का पालन करने के लिए तत्पर रहते हैं। ये अपने आप नहीं होता है, दरअसल एक सोची-समझी नीति के तहत इस प्रकार के लोगों को तैयार किया जाता है ताकि एक आज्ञाकारी बहुसंख्यक समाज, अल्पसंख्यक अभिजात वर्ग की सेवा में जुटा रहे और उसकी आपूर्ति कभी रुके नहीं। अतः हर बार कमोबेश वही शिक्षा नीति देखने को मिलती है। उदाहरण स्वरूप कोई भी राष्ट्रीय शिक्षा नीति उठा के देख लें उसमें प्रौढ़ शिक्षा पर पूरा एक अलग खंड होता है। देश की आजादी के सत्तर वर्षों के बाद भी नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति (ड्राफ्ट दस्तावेज) 2016 ने प्रौढ़ शिक्षा पर अच्छा खासा बल दिया है। यानी कि दशक दर दशक निरक्षर पुनरुत्पादित होते रहेंगे और इस बहुसंख्यक समाज को बहलाने के लिए कहा जाएगा कि प्रौढ़ शिक्षा है ना!

केंद्र एवं राज्य दोनों सरकारों द्वारा हाल ही में फेल करने और बाहर धकेलने की नीति पुनः लाए जाने के लिए पुरजोर कोशिश की जा रही है; जिसमें अभिजात वर्ग भी जोर-शोर से शामिल हो गया है। इस पुरजोर कोशिश में दिल्ली सरकार ने तो सभी राज्यों को पीछे छोड़ दिया है, उसने तो इस समाज में व्याप्त वर्गीकरण को ज्यों का त्यों कक्षाओं के स्तर पर लाकर वैधता प्रदान कर दी है। अब दिल्ली सरकार के स्कूलों में हर कक्षा में प्रतिभा, निष्ठा एवं विश्वास का वर्गीकरण देखने को मिलता है। इसने बाल-मन में स्व की छवि को धूमिल कर दिया है। बच्चों की गरिमा को ऐसा ध्वस्त किया है कि अब शायद ही ये बच्चे अपनी स्व-छवि को पुनः जोड़ पाएंगे। अगर जोड़ने की प्रक्रिया शुरू भी करेंगे तो स्कूली तंत्र उन्हें यह प्रक्रिया पूरी होने से पहले ही बाहर धकेल देगा। फेल करने और बाहर धकेलने की नीति का एक राजनैतिक अर्थशास्त्र है जिसको समझना आवश्यक है ये सिर्फ शिक्षा में गुणवत्ता का मसला नहीं है।

सबसे पहला सवाल उठता है कि यह कौन से बच्चे हैं जिन पर यह नीति ज्यादा लागू होगी। जवाब ज्यादा मुश्किल नहीं है। सरकारी विद्यालयों में जाने वाले विद्यार्थी सामान्यतः निम्न आर्थिक-सामाजिक वर्ग से आते हैं और यह नीति मूलतः इन्हीं पर लागू होगी। परंतु कुछ और भी बच्चे हैं जिन पर इस नीति का असर होगा।

शिक्षा के मूलभूत अधिकार के अन्तर्गत कम से कम पच्चीस प्रतिशत बच्चे जो कि आर्थिक रूप से कमजोर हैं उन्हें गैर-सरकारी स्कूलों में भर्ती का अधिकार है। यहां एक बात और ध्यान देने योग्य है वह यह कि शिक्षा का मौलिक अधिकार संबंधी एकट पच्चीस प्रतिशत को ऊपरी सीमा नहीं मानता। पच्चीस प्रतिशत तो कम से कम होना ही चाहिए जिसे गैर-सरकारी स्कूलों ने अधिकतम मानकर उसमें भविष्य में किसी प्रकार की वृद्धि के अवसरों को सदैव के लिए बंद कर दिया है। यह बात तो स्पष्ट है कि गैर-सरकारी स्कूल आर्थिक रूप से कमजोर बच्चों को स्कूल में प्रवेश नहीं देना चाहते। उनकी यह मंशा इस बात से भी जाहिर होती है कि उन्होंने इस प्रावधान के खिलाफ एक महंगी और लंबी लड़ाई न्यायालय में लड़ी है। हम यह कैसे मान लें कि गैर-सरकारी स्कूल आर्थिक रूप से कमजोर जिन पच्चीस प्रतिशत बच्चों को प्रवेश दे रहा है उन्हें लंबे समय तक स्कूल में रखने की उसकी मंशा है।

अब प्रश्न उठता है कि कैसे इन पच्चीस प्रतिशत बच्चों को गैर-सरकारी विद्यालयों से बाहर किया जाए क्योंकि अभिजात वर्गीय अभिभावक भी इस प्रावधान से खुश नहीं हैं। अपने बच्चों को वे आया के बच्चे के साथ पढ़ता नहीं देख सकते। तो समाधान के रूप में फेल करने के प्रावधान को वापिस लाने की मुहिम तेज कर दी गई। लर्निंग आउटकम के नाम पर अब इन बच्चों को आसानी से फेल कर दिया जाएगा क्योंकि लर्निंग आउटकम एक खास तरह की सांस्कृतिक पूंजी पर आधारित होंगे और वह सांस्कृतिक पूंजी इन बच्चों के पास होने का तो सवाल ही नहीं उठता। इस तरह बड़ी आसानी से कुछ वर्षों में यह पच्चीस प्रतिशत गैर-सरकारी विद्यालयों से बाहर धकेल दिया जाएगा। और यह तबका स्वयं को ही इस स्थिति के लिए दोषी ठहराएगा क्योंकि स्कूल ने तो इन्हें प्रवेश दिया था परंतु ये स्वयं ही कुछ नहीं कर पाए। यानी बतौर समाज हम वंचित तबके के बच्चों को अकेला और असहाय ही नहीं छोड़ रहे होंगे बल्कि अपनी इस स्थिति के लिए उन्हें खुद जिम्मेदार भी ठहरा रहे होंगे। दूसरी तरफ सरकारी स्कूल जहां पहले से ही बहुसंख्यक बच्चे निम्न आर्थिक वर्ग से आते हैं राज्य की दृष्टि में उनका कोई मूल्य नहीं है। ये कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि उसकी नजर में इस वर्ग के जीवन का ध्येय ही अभिजात वर्ग की सेवा करना है। उनको स्कूल में रोके रखने का मतलब है राज्यकोष पर बोझ। थियोडोर डब्लू शुल्ट्ज, अर्थशास्त्र के शिकागो स्कूल से थे जिन्हें अर्थशास्त्र में नोबेल भी मिला था, 1962 में उन्होंने एक अध्ययन में ये दिखाया कि शिक्षा में निवेश मानव पूंजी का निर्माण करता है और इस रूप में आर्थिक विकास में प्रत्यक्ष रूप से योगदान देता है। परंतु भारतीय संदर्भ में बहुसंख्यक बच्चों के लिए अध्यापकों की व्यवस्था करना, मूलभूत ढांचा और सुविधाएं उपलब्ध कराना, ये सब व्यय राज्य द्वारा आर्थिक बोझ की तरह देखे जाते हैं न कि निवेश की तरह।

नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2016 ड्राफ्ट दस्तावेज कुछ इसी तरह की बात करता है। यह कहता है कि सैकेंडरी स्कूलों के अच्छे संचालन के लिए आवश्यक है कि वर्तमान स्कूलों का विलय कर दिया जाए. यह ड्राफ्ट दस्तावेज नए सैकेंडरी स्कूलों को खोलने की बात कहीं नहीं करता। अगर इस प्रावधान को फेल करने की नीति से जोड़ कर देखा जाए तो पता चलता है कि आगे आने वाले समय में सफलतापूर्वक प्रारंभिक शिक्षा समाप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या इतनी कम कर दी जाएगी (उन्हें फेल करके और मजबूर करके कि वो खुद स्कूल छोड़ कर चले जाएं) कि सैकेंडरी स्कूलों की आवश्यकता ही नहीं रहेगी और यह राज्य को एक बड़े आर्थिक बोझ से भी मुक्ति देगी।

जैसा कि हम सभी जानते हैं कि ज्यादातर छात्र-छात्राएं क्योंकि (राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2016 ड्राफ्ट व उससे पहले 1986/1992 की शिक्षा नीति ने भी माना है कि बाल श्रमिक तो होंगे ही और बाल श्रम से सम्बंधित अमेंडमेंट एकट भी सुनिश्चित करता है कि एक बड़ा भाग बच्चों का बाल श्रम में जरूर लगेगा) किसी प्रकार से पांचवी कक्षा तक पहुंच जाएंगे और कम से कम अपना नाम लिखना तो सीख ही जाएंगे तो वो अब निरक्षर नहीं रहेंगे। भारत के माथे से एक दाग थोड़ा धुंधला होगा। ये छात्र-छात्राएं छठी कक्षा के बाद कब तक स्कूली तंत्र में बने रहेंगे यह भविष्यवाणी करना आसान नहीं है परंतु ज्यादा समय तक नहीं रह पाएंगे यह कहा जा सकता है। ऐसा इसलिए कि एक और नीति है जिसकी सफलता इन छात्र-छात्राओं के स्कूल से बाहर होने पर निर्भर करती है, वह है कौशल विकास की राष्ट्रीय नीति। इस नीति के तहत स्कूल से बाहर किये गए बच्चों को विभिन्न कौशलों में प्रशिक्षित किया जाएगा। इस नीति

में निहित मूलभूत धारणा यह है कि कौशलों का ज्ञान से कोई संबंध नहीं है और कौशल बिना उस ज्ञान को जाने अर्जित किए जा सकते हैं जो उन कौशलों में अन्तर्निहित है। इन धकेले गए बच्चों को यह धारणा इन कौशल विकास के कार्यक्रमों में प्रवेश लेने के लिए उत्साहित करेगी क्योंकि वे ज्ञान अर्जित करने के काबिल नहीं हैं इसीलिए स्कूल से निकाले गए हैं (स्कूल ज्ञान-कोष माने जाते हैं) और कौशल आसानी से अर्जित कर सकते हैं। कौशलों के विकास पर अत्यधिक बल की यह परिघटना हमें शिक्षा दर्शन के ज्ञान मीमांसीय धरातल पर ले जाती है।

जब राष्ट्रीय शिक्षा नीति केवल कौशलों के विकास पर बल देती है तो यह कदम उसकी ज्ञान संबंधी अवधारणा को इंगित करता है। किसे वह ज्ञान मानती है और किसे वह ज्ञान की परिधि से बाहर रखती है। अरस्तु सबसे पहले दार्शनिक थे जिन्होंने ज्ञान को तीन भागों में विभाजित किया ताकि ज्ञान की एक बेहतर समझ बना सकें। वे ज्ञान को एपिस्टेमे, टेक्ने और फ्रॉनोसिस में विभाजित करते हैं। एपिस्टेमे का अर्थ है जानना, टेक्ने का अर्थ शिल्पकारिता और फ्रॉनोसिस एथिक्स से संबंधित है। वे बार-बार कहते हैं किसी भी प्रकार के ज्ञान के निर्माण में ये तीनों मदद करते हैं। इस प्रकार ये तीनों एक दूसरे के पूरक हैं। गांधी भी अपनी बुनियादी शिक्षा के संदर्भ में ज्ञान का सृजन मस्तिष्क, हृदय एवं हाथों के सामूहिक प्रयोग से होना संभव मानते हैं और गांधी की ये तीनों श्रेणी अरस्तु के विभाजन के समरूप हैं। शिक्षा में ज्ञान का अर्थ इन तीनों पक्षों से होता है अतः एक पर ध्यान केंद्रित करने का अर्थ है बाकि दोनों पक्षों को अनदेखा करना और इससे जो समझ बनेगी वह आंशिक होगी। अब बड़ा सवाल यह है कि क्यों आंशिक समझ का विकास करने पर बल दिया जा रहा है? आंशिक समझ हमें परिस्थितियों को पूर्ण रूप से समझने में अक्षम कर देती है और हम अपने हितों की अनदेखी होते हुए ना तो देख पाते हैं और ना ही समझ पाते हैं। भारतीय समाज जो कि आधुनिक होने का दावा करता है परंतु परम्पराओं की बेड़ियों को पहने हुए है इस तंत्र में मस्तिष्क सर्वोपरि है और हाथों का दर्जा उससे कम है, पूरी जाति व्यवस्था का तो आधार ही यही है, इसलिए दिमागी काम का सामाजिक एवं आर्थिक ओहदा ऊंचा है बनिस्वत उन कामों के जिनमें शारीरिक श्रम प्राथमिक होता है। अतः कौशलों को ज्ञान से अलग करने का अर्थ है कि उनके स्तर को सामाजिक दृष्टि में और गिरा देना। तो यह एक सोचा समझा कदम है यथास्थिति बनाये रखने का और जो सामाजिक वर्गीकरण में निचले स्तर पर हैं उन्हें बार-बार स्मरण कराने का कि उनका स्तर क्या है ताकि उनकी स्मृति में यह ताजा बना रहे। और ज्ञान संबंधी यह अवधारणा, कि कौशल ज्ञान से रहित हो सकते हैं और इसमें कोई असंगति भी नहीं है, उन्हें एक मशीनी इंसान में तब्दील कर देता है और वे बिना कोई प्रश्न चिह्न लगाए एक रौ में काम करते चले जाते हैं।

बहरहाल, अब आर्थिक एवं सामाजिक रूप से कमजोर छात्र-छात्राओं (सरकारी या गैर-सरकारी स्कूल) के पास और कोई चारा नहीं रह जाएगा और वे मजबूरी में छोटे-छोटे कौशल विकास के सर्टिफिकेट कोर्स करेंगे और कम वेतन पर छोटी-बड़ी, देशी-विदेशी कम्पनियों की सेवा करेंगे, कभी भी उच्च वेतन की मांग नहीं करेंगे क्योंकि वे स्वयं जानते होंगे कि सर्टिफिकेट का डिग्री की तुलना में कोई मूल्य नहीं है। ये पूरा फेल करने और बाहर धकेलने का तंत्र एक खास राजनैतिक अर्थशास्त्र के तहत काम कर रहा है जहां आर्थिक संसाधनों की कमी का शोर मचाया जा रहा है और दूसरी तरफ एक कौशल यापता फौज तैयार की जा रही है जो अभिजात वर्ग के एक इशारे पर अपना सब कुछ न्यौछावर करने देने के लिए तत्पर है। ◆

लेखिका परिचय : शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय में सहायक प्रवक्ता के पद पर कार्यरत हैं। उन्हें अंतर्राष्ट्रीय समर स्कूल में भाग लेने व शोध पत्र पढ़ने के लिए जॉर्ज एकहार्ट इंस्टिट्यूट, ब्राउनशिवक, जर्मनी की जॉर्ज आर्नहोल्ड फैलोशिप मिल चुकी है और डर्बन, साउथ अफ्रीका में मानव अधिकार के दूसरे अंतर्राष्ट्रीय कांफ्रेंस में शोध पत्र पढ़ने के लिए ऑस्ट्रेलियन ऐड की पूर्ण फंडिंग भी मिल चुकी है।